शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

अषाढ़ : २४८१ ☆ वर्ष ग्यारहवाँ ☆ अंक तीसरा

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

मुक्ति का पहला सोपान

अन्तर के चिदानन्दस्वभाव को पहिचान कर उसमें एकाग्रता से राग दूर करके जिन्होंने सर्वज्ञता प्रगट की, उन सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि में ऐसा उपदेश आया कि—अरे आत्मा! तूने अपने मूलस्वभाव की ओर कभी उन्मुखता नहीं की, तेरा आत्मा एकसमय में परिपूर्ण ज्ञान और आनन्दस्वभाव से परिपूर्ण है, उसे पहिचान कर उसकी प्रतीति कर। अंतरात्मा में एकाग्र होने से राग दूर हो जाता है और सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है; इसलिये राग वह तेरा सच्चा स्वरूप नहीं है किन्तु पूर्ण ज्ञान, वह तेरा स्वरूप है।—इस प्रकार राग से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय करना, वह मुक्ति के उपाय का पहला सोपान है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१२३

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

एक क्षण भी नहीं किया

आत्मा के चिदानन्दस्वभाव की प्राप्ति इस जगत में दुर्लभ है। जब तक अपने भूतार्थस्वभाव का निर्णय करके उसका अवलम्बन न ले, तबतक जीव को धर्म नहीं होता। अहो! पूर्व अनन्तकाल में अनन्त जन्म में पुण्य करके स्वर्ग में गया, किन्तु अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को कभी एक क्षण भी लक्ष में नहीं लिया, इसलिये संसार में ही भटकता फिरा। आचार्यदेव कहते हैं कि अरे! अनन्त जन्म-मरण में जीवों को इस चैतन्यतत्त्व की प्राप्ति दुर्लभ है; चैतन्यतत्त्व की बात भी उन्हें दुर्लभ हो गई है। पुण्य-पाप तो सुलभ हैं, वे अनन्तबार कर चुका है, किन्तु उनसे पार ज्ञानस्वरूप आत्मा क्या वस्तु है, वह बात पूर्व अनंतकाल में कभी एक क्षण भी लक्ष में नहीं ली; इसलिये हे भाई! अब अंतरदृष्टि करके शुद्धनय से अपने आत्मस्वभाव को लक्ष में ले।

आत्मधर्म

अषाढ़ : २४८१ ☆ वर्ष ग्यारहवाँ ☆ अंक तीसरा

जीव को संसार परिभ्रमण क्यों हुआ ?

और अब वह कैसे दूर हो सकता है ?
उत्तम और निर्दोष कर्तव्य क्या है ?

प्रत्येक आत्मा में सर्वज्ञ होने की शक्ति विद्यमान है। अन्तर की चैतन्यशक्ति के अवलम्बन से ही संसार का नाश होकर मोक्षदशा प्रगट होती है। चैतन्यशक्ति के अविश्वास के कारण ही जीव को अभीतक संसारपरिभ्रमण हुआ है। अंतर के चैतन्यस्वभाव की पहिचान-प्रतीति और विश्वास करना ही इस जगत में उत्तम और निर्दोष कर्तव्य है।

यह आत्मा के धर्म की बात चल रही है। आत्मधर्म का अर्थ क्या ? आत्मा अनादि-अनंत चैतन्यस्वरूप वस्तु है; वह देह से भिन्न ज्ञानस्वरूप है। उसे न तो किसी ने बनाया है और न कभी उसका नाश होता है। ऐसे आत्मा को जाने बिना कभी धर्म नहीं होता। यहाँ शास्त्रकार कहते हैं कि शुद्ध चिद्रूप निर्दोष आत्मा है, उसकी पहिचान करना ही इस जगत में उत्तम और निर्दोष कर्तव्य है। पूर्वकाल में कभी ऐसे आत्मस्वरूप को नहीं जाना; इसलिये जीव को संसारपरिभ्रमण हुआ है। यदि एक बार भी आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जान ले तो जीव की मुक्ति हुए बिना न रहे।

इस देहमन्दिर में विद्यमान प्रत्येक आत्मा शक्तिस्वभाव से तो शुद्ध निर्मलानन्द है, किन्तु वर्तमान अवस्था में वह अनादिकाल से अपने स्वरूप को भूला हुआ है, उस भूल के फल में यह संसार भ्रमण है। 'मैं चैतन्य-स्वभाव हूँ'—ऐसा न जानकर शरीर की क्रिया है तो मेरा चारित्र है,

और शरीर की क्रिया ही मैं हूँ, ऐसा मानकर भ्रमणा से चारों गतियों में अनंतानंत अवतार धारण करता आया है। देह से भिन्न मेरा चैतन्यस्वरूप क्या है, उसका ज्ञान जीव ने अनंतकाल में कभी नहीं किया, और मेरा परवस्तु के बिना नहीं चल सकता—ऐसा मानता है, उसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा पराधीन है। अपने में स्वाधीन सुख है, उसे मानकर जिसने पर के कारण सुख माना, उसने आत्मा को पराधीना माना है; और उस पराधीनता की मान्यता के कारण ही वह संसार में भटक रहा है। ''पराधीन सपनेहु सुख नाहीं'' ऐसा लोग कहते हैं किन्तु उसका वास्तविक अर्थ क्या है, वह नहीं समझते। आत्मा के अपने सुख के लिये परवस्तु की आवश्यकता होती है, यह मान्यता ही महान पराधीनता है। भाई! तेरा सुख पर में है—ऐसा तूने कहाँ से मान रखा है? तेरा सुख तुझमें होगा या पर में? परवस्तु तो तुझसे पृथक् है, तब फिर तुझसे पृथक् वस्तु में तेरा सुख कैसे हो सकता है? अंतर के चैतन्यस्वभाव में ही सुख है, उसे भूलकर पर में सुख मान रहा है, वह मान्यता दोषरूप है। सुख तो आत्मा का स्वभाव है। जिस प्रकार चने को सेकने से उसमें जो मिठास आती है, वह कहाँ से आई? क्या वह कड़ाही या रेत में से आती है? नहीं; उस चने में ही मिठास का स्वभाव भरा है, वही प्रगट हुआ है, उसी प्रकार आत्मा के स्वभाव में ही सुख भरा है, वही प्रगट हुआ है, किन्तु उसे भूलकर पर में सुख मानता है, इसलिये उसे अपने सुख का व्यक्त अनुभव नहीं होता। आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव को जानने पर उसी में से सुख प्रगट होता है। अपने में ही सुख है, वह प्रगट होता है-पर में से सुख नहीं आता। आत्मा वस्तु आनन्दस्वरूप है, वस्तु स्वयं स्वभाव से दुःखरूप नहीं होती, किन्तु भूल के कारण दुःख है।

जैसे—चना कच्चा हो तो उसका स्वाद कषायला होता है और बोने से उगता भी है; उसी प्रकार जीव को अज्ञानभाव से दुःख का अनुभव होता है और जन्म-मरण भी करता है, किन्तु चने को सेकने से उसमें मिठास प्रगट हो जाती है; और बोने से उगता भी नहीं है; उसी प्रकार आत्मा के स्वभाव का भान करके उसमें एकाग्र होने से आनन्द का अनुभव होता है और जन्म-मरण नहीं होते।

भगवान आत्मा शरीरादि की क्रिया से भिन्न चैतन्यपिण्ड है; उसमें जो राग-द्वेष की वृत्ति होती है, वह उपाधिभाव है। उस उपाधिरहित निरुपाधिक चैतन्यस्वभाव को पहिचानना और उसमें एकाग्रता करना, वह धर्म की नीति है। यह लोकोत्तर नीति है। आत्मा अनादिकाल से अनीति कर रहा है;—किस प्रकार!—अपने चैतन्यस्वरूप को भूलकर शरीर है, सो मैं हूँ-इस प्रकार पर को

अपना मानता है। शरीरादि परवस्तुयें अपनी न होने पर भी अज्ञान से उन्हें अपना मानता है, वह महान अनीति है और उस अनीति के फल में संसाररूपी जेल की सजा है। हिंसा-झूठ-चोरी आदि के पापभाव, वह लौकिक अनीति है और उसका त्याग करके शुभभाव करे तो वह लौकिक नीति है, किन्तु धर्म की नीति तो अलग ही वस्तु है। अपना चैतन्यस्वरूप जैसा है, वैसा मानना और पर के एक अंश को भी अपना न मानना-ऐसा भेदज्ञान करना, वह धर्म की अपूर्व नीति है।

देखो! बड़ा राजा हो या रंक हो, किन्तु यह वस्तु समझने में ही सुख है। चैतन्यतत्त्व की समझ के बिना सब व्यर्थ है। चैतन्य को भूलकर पैसादि में जो सुख मानता है, वह बड़ा राजा हो तो भी वास्तव में वह भिखारी है।

जो माँगे वह भिखारी, और जो न माँगे वह राजा,
जो अधिक माँगे, वह बड़ा भिखारी
जो कम माँगे, वह छोटा भिखारी
जो कुछ न माँगे, वह बड़ा बादशाह।

चैतन्यस्वभाव को चूककर पर में मेरा सुख है-ऐसा जो मानते हैं, वे सब भिखारी हैं। भले ही राजा हो किन्तु "मेरा परवस्तु के बिना नहीं चल सकता"—ऐसा जो मानता है, वह परमार्थतः भिखारी है। यहाँ तो कहते हैं कि भाई! तेरा आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसी में तेरा सुख है, पैसे में या शरीरादि में तेरा सुख नहीं है और अंतर में जो रागादि की वृत्ति उठती है, वह विकार है, उसमें भी तेरा सुख नहीं है। अनादि काल से चार गतियों में अनंत अवतार हुए किन्तु यह बात जीव नहीं समझा। सच्ची समझ के बिना अनन्त काल से अवतार करता आ रहा है। एक दो नहीं, लाखों-करोड़ों नहीं, किन्तु अनन्तानन्त अवतार जीव ने किये हैं। उनमें कभी-कभी दया-दानादि के शुभ परिणामों से स्वर्ग भी गया और तीव्र हिंसादि के पापपरिणामों से नर्क में भी गया, तथा तिर्यंच और मनुष्य के अवतार भी अनन्त बार किये। नर्क का स्थान भी नीचे है, वह कल्पना नहीं किन्तु शाश्वत् है। एक खून करनेवाले को यहाँ एक बार फाँसी दी जाती है किन्तु जो लाखों करोड़ों जीवों की हिंसा के परिणाम करे, उसकी सजा भोगने का स्थान नहीं है, वह तो नर्क में है, वहाँ अनंती प्रतिकूलता है। ऐसे नर्क तथा स्वर्ग के अनन्त अवतार जीव कर चुका है किन्तु "मैं चैतन्यस्वरूप वस्तु हूँ" इस बात की समझ कभी नहीं की। "पर में सुख है और मुझमें नहीं हैं"—ऐसी विपरीत मान्यता से जीव संसार में परिभ्रमण करता है, वह परिभ्रमण कैसे दूर हो—उसकी यह बात है।

देखो भाई! यह जो मनुष्य भव मिला है, वह तो पच्चीस-पचास वर्ष तक रहेगा, फिर तो शरीर छूट जायेगा और आत्मा अन्यत्र चला जावेगा। शरीर तो संयोगी वस्तु है, उसका संयोग नया हुआ है, वह अल्प काल तक रहकर छूट जायगा। संयोगी वस्तु जीव के साथ सदैव नहीं रहती। अंतर में जो शुभाशुभ वृत्तियाँ उठती हैं, वह भी स्थायी वस्तु नहीं है। शुभ बदल कर अशुभ और अशुभ बदल कर फिर शुभ वृत्ति होती है, वह जीव का स्थायी स्वरूप नहीं है। अंतर में आत्मा की चैतन्य सत्ता नित्य स्थायी है, वह आनन्द से भरपूर है किन्तु अनादिकाल से उसकी महिमा या प्रतीति नहीं की। यदि चैतन्यस्वभाव की प्रतीति करे तो यह संसारपरिभ्रमण न रहे। यह जो आँख-कान दिखाई देते हैं, वे जड़ हैं। आँख-कान निस्तेज हो जाते हैं, शरीर के दूसरे अवयव काम नहीं करते; उस समय भी अंतर में मैं ज्ञानानन्दस्वरूप, देह से भिन्न हूँ—ऐसा भाव करके उसमें एकाग्र होना, वह मोक्ष का मार्ग है। शरीर की क्रिया में या इन्द्रियों में आत्मा की मुक्ति का मार्ग नहीं है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का ज्ञान करना ही इस जगत में निर्दोष कार्य है। जीव ने कभी अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप की श्रद्धा करने का यत्न नहीं किया; शरीर की क्रिया को अपना मानना और राग से धर्म मानना—उसमें मिथ्यात्व का महान दोष है—अपराध है, उससे संसार परिभ्रमण होता है, और देह से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की पहिचान-प्रतीति-अनुभव करना, वह निर्दोष कार्य है, वह मोक्ष का कारण है; इसलिये मनुष्यभव में सत्समागम से ऐसे आत्मा की समझ का प्रयत्न करना चाहिये। बाह्य कार्य तो पूर्वकालीन पुण्यानुसार होते हैं। पैसे का आना या जाना—वह सब पूर्व के पुण्य-पापानुरूप है, उसमें जीव की चतुराई काम नहीं आती—वहाँ वह व्यर्थ का अभिमान करता है; किन्तु शरीर से भिन्न और अंतर की शुभाशुभवृत्तियों से भी पार, ऐसा मेरा ज्ञानानन्दस्वभाव क्या है, वह जानने की कभी दरकार नहीं की। चैतन्यतत्त्व के भान बिना दयादि के भाव करके स्वर्ग में अनंत बार गया, हिंसादि के तीव्र पापभाव करके अनंतबार नर्क में भी भटका; तीव्र दंभ-माया वक्रता के परिणाम करके तिर्यंच में भी भ्रमण किया ओर कुछ मध्यम परिणामों के फल में मनुष्य भी अनंत बार हुआ, किन्तु चैतन्यस्वभाव का भान कभी एक क्षण भी नहीं किया। जिस प्रकार पर्वत पर बिजली गिरे और उसके टुकड़े हो जायें, तो वे फिर कभी नहीं संधते; उसी प्रकार यदि एक बार भी देह से भिन्न चिदानन्दस्वभाव का भेदज्ञान करे तो फिर संसार में भ्रमण न हो। भाई! तेरा भाव पर में तो काम नहीं आता; इसलिये पर के कर्तृत्व का व्यर्थ अभिमान छोड़ दे। तुझे पर को बचाने का भाव होता है, किन्तु तेरे भाव के कारण परजीव बच नहीं जाता। तेरा बचाने का भाव होने पर भी

परजीव की आयु शेष न हो तो वह मर जाता है और उसकी आयु हो तो बच जाता है; इसलिये परजीव की क्रिया तो तेरे आधीन नहीं है। जीव की इच्छा न होने पर भी, वृद्धावस्था आने पर सिर के बाल सफेद हो जाते हैं। इस शरीर पर तेरी भी सत्ता नहीं, वह तुझसे भिन्न वस्तु है। मैं शरीर से भिन्न ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा हूँ—ऐसी पहिचान करना-रुचि करना और उसमें एकाग्रता करना, वह धर्म है और वही संसार से छूटने का उपाय है। यह मनुष्यभव प्राप्त करके सत्समागम से ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को पहिचानकर उसका ध्यान करना चाहिए, वही इस जगत में उत्तम और निर्दोष कार्य है। चिदानंदस्वरूप आत्मा का रागरहित स्वसंवेदन हो, उसी को भगवान निर्दोष वस्तु कहते हैं, इसके सिवाय अज्ञानभाव से जो कुछ करे, यह सब सदोष है।

देखो, चैतन्य वस्तु में आनन्द भरा है, वह आनंद आँख आदि इन्द्रियों से दिखाई नहीं देता किन्तु अतीन्द्रियज्ञान द्वारा उसका निर्णय होता है। जिस प्रकार दियासलाई के छोटे से टोपे में अग्नि प्रगट होने की शक्ति है, वह आँख आदि इन्द्रियों से दिखाई नहीं देती, किन्तु ज्ञान द्वारा उसका निर्णय होता; उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा में सर्वज्ञता का तेज प्रगट होने की शक्ति है, उसकी प्रतीति करके उसमें एकाग्र होने से सर्वज्ञता अन्तर से ही प्रगट होती है। हम ''णमो अरिहंताणं और णमो सिद्धाणं'' कहते हैं, वे अरिहंत और सिद्ध भगवान कहाँ से हुए? अनन्त सर्वज्ञ भगवन्त हुए, वे सब अपनी चैतन्यशक्ति में से ही केवलज्ञान प्रगट करके हुए हैं, कहीं सर्वज्ञता बाहर से नहीं आती और न उसका साधन भी बाह्य में है। अंतर की चैतन्यशक्ति की प्रतीति करके उसके ध्यानरूपी साधन द्वारा ही सर्वज्ञता हुई है, किसी बाह्य साधन से या राग के साधन से सर्वज्ञता नहीं हुई। यदि शरीरादि बाहरी साधनों से या राग के साधनों से सर्वज्ञता हुई हो तो उन साधनों के छूट जाने पर सर्वज्ञता भी चली जायेगी, किन्तु अंतर की चैतन्यशक्ति के अवलंबन से ही सर्वज्ञता प्रगट होती है। प्रत्येक आत्मा में सर्वज्ञ होने की शक्ति विद्यमान है, अंतर की चैतन्यशक्ति के अवलम्बन से ही संसार का नाश होकर मोक्ष दशा प्रगट होती है। चैतन्यशक्ति के अविश्वास के कारण ही जीव को अभी तक संसार परिभ्रमण हुआ है। अंतर के चैतन्यस्वभाव की पहिचान—प्रतीति और विश्वास करना ही इस जगत में उत्तम और निर्दोष कर्तव्य है।

[बाबरा ग्राम में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन : वीर सं. २४८० माघ कृष्णा ९]

धर्म का प्रथम सोपान

[जामनगर में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]
(चैत्रकृष्णा २, वीर संवत् २४८०)

हे भाई! आत्मा के उर्ध्वस्वभाव की श्रेणी पर चढ़ने का अर्थात् मुक्ति का प्रथम सोपान तो सम्यग्दर्शन ही है; पुण्य है, वह धर्म का सोपान नहीं है।

देखो, मनुष्य अवतार प्राप्त करके आत्मा का हित कैसे हो, उसकी यह बात है—

''कहे महात्मा, सुनो आत्मा, कहू वातमा वीतक खरी,
संसार सागर दुःख भर्यामां अवतर्यो कर्मे करी;
ज्यां कष्ट कोटि असत्य भरपूर पाप पामर प्राणीनां,
पामेल मानव जिंदगीनी कदर अंतर आणी ना।''

संसार में भवभ्रमण करते हुए अनन्तकाल में यह मनुष्यभव प्राप्त हुआ है; उसमें आत्मा की समझ करके भव का अन्त लाने का यह अपूर्व समय है। ऐसा मनुष्य भव पाकर भी यदि चैतन्य का भान न करे और देहादि के लालन-पालन में तथा पुण्य-पाप की रुचि में जीवन पूरा कर दे तो मनुष्य शरीर व्यर्थ ही गँवा देने जैसा है।

अनादिकाल से जीव सुख के लिये झूर रहा है, किन्तु अभी तक उस सुख की प्राप्ति नहीं हुई, क्योंकि उसने सुख का सच्चा उपाय नहीं जाना है। चारि गति में देह, लक्ष्मी आदि के संयोग अनन्त बार मिले, अरे! स्वर्ग के वैभव भी अनन्त बार प्राप्त हो गये, किन्तु उनसे सुख की भूख नहीं मिटी; इसलिये संयोग में कहीं सुख नहीं है।—इस बात का निर्णय करके स्वीकार होना चाहिए। आत्मा के स्वभाव में ही सुख है। जिस प्रकार चने के प्रत्येक दाने में मिठास भरी है, वह कहीं बाहर से नहीं आती किन्तु उसके स्वभाव में भरी है, वही प्रगट होती है; उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा आनंदस्वभाव से भरा हुआ है, उसमें अन्तर्दृष्टि करे और पर में से सुख की बुद्धि छोड़ दे तो आत्मा का सच्चा सुख प्रगट हो। वह सुख किन्हीं बाह्य संयोगों में से नहीं आता, किन्तु अन्तर्स्वभाव में है वही प्रगट होता है।

आत्मा का सुख आत्मा के ही अवलम्बन से प्रगट होता है, किन्तु बाह्य अवलम्बन से प्रगट नहीं होता। जिस प्रकार आम के रस का स्वाद लेना हो तो आम के पेड़ का मूल पकड़कर ऊपर चढ़ना चाहिए। यदि नीम का पेड़ पकड़ लेगा तो आम का स्वाद नहीं आ सकता। तोते आदि पक्षी

आकाश में उड़ते हुए सीधे पेड़ पर उतरकर आम का स्वाद लेते हैं और चींटी आदि प्राणी आम का तना पकड़कर ऊपर चढ़कर स्वाद लेते हैं। पक्षी ऊपर से उड़कर आते हैं और चींटी नीचे से धीरे-धीरे ऊपर चढ़ती है—किन्तु दोनों को आम का स्वाद तो एक-सा ही आता है। भले ही दूर लगे किन्तु तना तो आम का ही पकड़ना चाहिये। आम के बदले नीम का तना पकड़ेगा तो आम का स्वाद नहीं आयेगा। चींटी को आम खाना हो तो उसे क्या करना चाहिये ?—आम का तना पकड़ कर ऊपर चढ़कर आम का स्वाद लेना चाहिये;—इसके सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है। उसी प्रकार जिसे आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेना हो, उसे क्या करना चाहिये ? आत्मा के ध्रुवस्वभावरूप तना पकड़कर उसका अवलम्बन लेना चाहिये। तीर्थंकर-मुनिवर तो उग्र पुरुषार्थ द्वारा चैतन्य का अवलम्बन करके आनन्द का उपभोग करते हैं और सम्यक्त्वी जीव भी चैतन्यस्वभाव का अवलम्बन करके आनन्द का उपभोग करते हैं। जिसे आत्मा के सच्चे-अविनाशी-परिपूर्ण सुख की आवश्यकता हो, उसे देहादि की और पुण्य-पाप की वृत्तियों से भिन्न चिदानन्दस्वरूप आत्मा को पकड़ना चाहिये, उसकी रुचि और ज्ञान करना चाहिये। तीर्थंकर और मुनिवर विशेष पुरुषार्थ द्वारा चैतन्यस्वरूप को शीघ्र प्राप्त करके निर्विकारी आनन्द का अनुभव करते हैं और अल्पकाल में केवलज्ञान तथा पूर्णानन्द प्रगट करते हैं। और जिन जीवों से इतना उग्र पुरुषार्थ न हो सके, उन्हें भी यह चैतन्यस्वभाव की बात प्रीति से श्रवण करके, उसके संस्कारों को दृढ़ करके स्व-स्वभाव के निश्चय द्वारा सम्यग्ज्ञान प्रगट करना ही सुख का उपाय है। तीर्थंकरों के लिये धर्म का मार्ग पृथक् है और दूसरे तुच्छ जीवों के लिये पृथक् है—ऐसा नहीं है; सभी जीवों के लिये धर्म का एक ही रास्ता है।

यह मूल मुद्दे की बात है। इसे समझे बिना धर्म नहीं हो सकता। यह मुद्दे की बात स्वीकार न करे और दया-राग-पूजादि की पुण्यवृत्ति से धर्म माने तो उसका इस संसार से छुटकारा नहीं हो सकता। राग रहित निर्मल चैतन्यस्वभाव है, वह मुख्य है; उसे स्वीकार न करे और राग को ही धर्म माने तो विपरीत मान्यता से कभी जन्म-मरण का अन्त नहीं आ सकता। जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी व्यापारी से हिसाब मिलाते समय, चार-छह आने की फुटकल रकमें तो स्वीकार करे और हजारों रुपये नगद लिये हों, उनका अस्वीकार करे तो वह व्यापारी के कर्ज से मुक्त नहीं हो सकता। उसी प्रकार "हिंसा नहीं करना चाहिए, दया पालना चाहिये, पूजा भक्ति करना चाहिये"—ऐसी शुभराग की बात तो स्वीकार करे किन्तु आत्मा का चिदानन्दस्वभाव, राग से पार है, राग से उसे धर्म नहीं होता—ऐसी मूलभूत बात न समझे और पुण्य को ही धर्म माने तो वह जीव संसार परिभ्रमण में

से नहीं छूट सकता। पुण्य-पाप की वृत्ति होती है, वह तो आस्रव-मलिनता-संसार का कारण है। आत्मा शुद्ध आनन्दमूर्ति चैतन्यकन्द है, उसकी पहिचान और बहुमान करके उसमें लीनता करना, वह मुक्ति का कारण है। ऐसे मुक्ति के कारण को न जाने और संसार के ही कारण को ही मुक्ति का कारण मानकर उसका सेवन करे तो उस जीव को चार गति का परिभ्रमण कभी दूर नहीं हो सकता।

यहाँ आचार्यदेव, जिज्ञासु शिष्य को समझाते हैं कि हे भाई! यह जो पुण्य और पापरूपी आस्रवभाव हैं, वे ठण्ड और गर्मी के बुखार की भाँति अनुक्रम से उत्पन्न होते हैं; इसलिये अनित्य और दुःखकारी हैं। संसार में परिभ्रमण करते हुए जीवों को अकेला पुण्यभाव ही रहे, ऐसा नहीं होता, और ऐसा भी नहीं होता कि अकेला पापभाव ही हमेशा बना रहे; किन्तु पाप-पुण्य के भाव बदलते रहते हैं। देखो, पहले सांसारिक व्यापार-धंधे का पापभाव था, वह बदलकर धर्मश्रवण का शुभभाव हुआ; और थोड़ी देर में वह बदलकर दूसरा भाव आयेगा।—इस प्रकार पुण्य-पाप के भाव प्रतिक्षण बदल जाते हैं; वे आत्मा को शरणभूत नहीं हैं। जो जीव, चैतन्यतत्त्व की रुचि नहीं करता और पुण्य की मिठास का सेवन करता है, उसे पुण्य के फल के संयोग में एकाकार बुद्धि से तीव्र पापभाव हुए बिना नहीं रहेगा और उसके फल में वह नरक-निगोदादि में परिभ्रमण करेगा। चैतन्यतत्त्व ही शरणभूत है। पूर्वभव के पुण्य के फलरूप यह मनुष्यदेह, पंचेन्द्रियों की पूर्णता, उत्तमकुल और सच्चे देव-गुरु-धर्म का योग प्राप्त हुआ है; अब पुण्य और उसके फल की रुचि छोड़कर शुद्ध चैतन्यतत्त्व की दृष्टि करे तो अपूर्व आत्मलाभ प्राप्त करे और भव का अन्त होकर शाश्वत् मोक्ष की प्राप्ति हो। जो जीव चैतन्यतत्त्व का अनादर करके पुण्य और संयोगों की मिठास मानता है, उसे मिथ्यात्व के बल से पापवासना की पुष्टि होती है और अनन्तकाल निगोदादि में परिभ्रमण करना पड़ता है।

पुण्यक्रिया करते-करते कल्याण हो जायेगा;—ऐसा कुछ लोग मानते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि ही विपरीत है। शास्त्रकार कहते हैं कि हे भाई! तेरा शुभभाव तो ठण्ड-गर्मी के बुखार की भांति क्षणिक है, वह नित्यस्थायी नहीं रहेगा, किन्तु बदलकर अशुभ हो जायेगा। पुण्य-पाप की वृत्ति रहित जो ज्ञानानन्दस्वरूप है, वह ध्रुव रहता है;—ऐसे ध्रुव चिदानन्दस्वरूप आत्मा की दृष्टि करना, वह धर्म है।

भगवान! तेरा आत्मा चिदानन्दशक्ति का पिण्ड है; उसे चूककर तूने अनादि से संयोग की और पुण्य-पाप की दृष्टि से हित माना है, किन्तु अन्तर में जो ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसे कभी नहीं देखा। बाह्य संयोग तो उनके अपने कारण से होते हैं, किन्तु अन्तर में धर्मी की दृष्टि बदल जाती है।

स्वर्ग के इन्द्र को इन्द्रपद के वैभव का संयोग होता है; तथापि अन्तर में भान है कि मैं संयोग से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ। भाई! ऐसा मनुष्यभव प्राप्त हुआ, उसमें आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है, वह बात लक्ष में तो ले। जिस प्रकार—बिना डोरे की सुई अगर खो जाये तो वह हाथ नहीं आती; किन्तु डोरा पिरोया हो तो ढूँढ़ने से मिल जाती है; उसी प्रकार यह मनुष्यदेह प्राप्त करके सत्समागम से यदि सूत्र अर्थात् सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा पिरो ले तो आत्मा चौरासी के अवतार में नहीं खो जायेगा; और यदि आत्मा के लक्ष बिना जीवन पूरा कर देगा तो संसार की चार गतियों में न जाने कहाँ-कहाँ रुलता फिरेगा। इसलिये हे भाई! आत्मा की यह बात सुनकर उसकी रुचि तो कर; अरे! हाँ तो कह। 'हाँ' कहते-कहते वैसी हालत हो जायेगी। भगवान! यह बात तूने कभी लक्ष में नहीं ली है। जिस प्रकार पारसमणि के संसर्ग से लोहा, सोना बन जाता है; किन्तु जिस लोहे में वैसी योग्यता हो वही सोना बनता है; जंग वाला लोहा, सोना नहीं बन सकता। उसी प्रकार सत्समागम से यथार्थ श्रवण-मनन करे तो पामरता दूर होकर यथार्थ ज्ञान हो; किन्तु यदि अन्तर में पुण्य-पाप की रुचिरूपी जंग लगी हो तो उसे लाभ नहीं हो सकता।

अहो! यह बात जीव ने पहले एक क्षण भी लक्ष में नहीं ली है। यदि एकबार भी यह बात लक्ष में लेकर रुचि करे तो अल्पकाल में मुक्ति हुए बिना न रहे। यह बात दृष्टि में लेना अपूर्व है। ऐसी दृष्टि प्रगट होने के पश्चात् सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को चक्रवर्ती राज्य का भी संयोग हो, किन्तु अंतर की दृष्टि चिदानन्दस्वभाव में पड़ी है; अंतर्दृष्टि में चिदानन्दस्वभाव के सिवा अन्य किसी का आदर नहीं है। सम्यग्दर्शन—वह धर्म का प्रथम सोपान है। अष्टपाहुड़ शास्त्र में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि—"दंसणमूलो धम्मो"—सर्वज्ञ भगवान ने जो धर्म कहा है, उसका मूल सम्यग्दर्शन है। चिदानन्दस्वरूप आत्मा की दृष्टि करना और पुण्य की रुचि छोड़ना, वह धर्म का प्रथम सोपान है। उसके बदले अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि पुण्य-वह धर्म का प्रथम सोपान है। भाई! आत्मा के ऊर्ध्वस्वभाव की श्रेणी पर चढ़ने का अर्थात् मुक्ति का प्रथम सोपान तो सम्यग्दर्शन ही है। पुण्य की रुचि करना तो नीचे उतरने की सीढ़ी है। हे भाई! तुझे अविनाशी कल्याण की आवश्यकता हो और भव का नाश करना हो तो पुण्य-पाप रहित चिदानन्दतत्त्व की पहिचान कर; इसके सिवा इन्द्र का इन्द्रासन भी अध्रुव है; उसकी शरण में चैतन्य की शांति नहीं है। इसलिये सत्समागम से आत्मा के ध्रुव चिदानन्दस्वरूप को समझाना ही शांति का उपाय है।●●

ज्ञानसामर्थ्य से महान ऐसे

चैतन्यतत्त्व को पहिचानो!

सम्यक्त्वी धर्मात्मा कहते हैं कि ''अहो! चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा मेरे ज्ञानमन्दिर में सदैव विराजमान रहे...'' जहाँ आत्मा का भान हुआ, वहाँ धर्मी जीव को आत्मा में से झन्कार आ जाती है ''अपने चिदानन्द स्वभाव के आश्रय से अब अल्पकाल में मेरे जन्म-मरण का अन्त आ जायेगा, और मैं केवलज्ञान प्रगट करके सिद्धपद प्राप्त करूँगा...'' सत्समागम से आत्मा की पहिचान करके अपने में ऐसा भाव प्रगट करना, वह धर्म है।

[जूनागढ़ से विहार करके पूज्य गुरुदेव माघ शुक्ला १४ के दिन वंथली ग्राम पधारे थे; वहाँ का प्रवचन]

यह आत्मा, देह से भिन्न ज्ञानस्वरूप तत्त्व है; अपने स्वरूप की सच्ची समझ के बिना वह अनादि से चार गतियों में भटक रहा है। तीव्र हिंसादि पापभाव करके अनन्तबार नर्क में गया और दयादि के पुण्यभाव करके स्वर्ग में भी अनन्तबार गया, किन्तु मैं पुण्य-पाप रहित ज्ञानस्वरूप हूँ—यह बात पहले एक क्षण भी नहीं समझा।

आत्मा, देह से भिन्न ज्ञानस्वरूप है, उसका ज्ञानसामर्थ्य इतना महान है कि उसमें एक क्षण में तीनकाल-तीनलोक ज्ञात हो जाते हैं;—ऐसा अचिंत्य ज्ञानसामर्थ्य होने के कारण आत्मा स्थूल है; वह इन्द्रियों या राग से ज्ञात नहीं होता किन्तु ज्ञान के स्व-संवेदन से ही ज्ञात होता है, इसलिये वह आत्मा सूक्ष्म भी है। ऐसे आत्मतत्त्व को जाने बिना जीव अनादि से चार गतियों में परिभ्रमण करता है। यह तो शरीर दिखाई देता है, वह जड़ है; आत्मा उससे भिन्न अरूपी चैतन्यतत्त्व है, वह देह के साथ कभी एकमेक नहीं हुआ है। अनंत सिद्ध परमात्मा, देहरहित पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप से जैसे विद्यमान हैं, वैसा ही इस आत्मा का स्वभाव है किन्तु उसे भूलकर ''शरीर मेरा है और मैं पुण्य-पाप जितना ही हूँ''—ऐसा मानकर जीव, संसार में भटकता है। जो जीव, स्वभाव को भूलकर तीव्र पापभाव करते हैं, वे नीचे नर्क में जाते हैं। नीचे सात नर्क हैं, वहाँ पाप के फल में जीव महान दु:ख भोगता है। सातवें नर्क में तेतीस सागरोपम की आयु है, उसमें असंख्य अरब वर्ष बीत जाते हैं। ऐसे नर्क के भाव भी जीव ने अज्ञानभाव से अनंत बार किये हैं। अज्ञानभाव से शुभभाव करके बड़ा देव और राजा भी अनन्त बार हुआ है, किन्तु आत्मा के ज्ञान बिना किंचित् कल्याण नहीं हुआ। शरीर-मन-वाणी मेरा स्वरूप नहीं है, और जो पुण्य-पाप की क्षणिकवृत्ति उठती है, वह भी

मेरा नित्य स्थायी स्वरूप नहीं है, मैं तो अनादि अनंत ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ;—ऐसी पहिचान और प्रतीति जीव ने कभी नहीं की; यदि सत्समागम से एकबार भी ऐसी पहिचान और प्रतीति करे तो अल्पकाल में मुक्ति हुए बिना न रहे।

यह भगवान आत्मा, देहरहित अरूपी ज्ञानस्वरूप है; अतीन्द्रिय होने से वह सूक्ष्म है; किन्तु ज्ञानसामर्थ्य में वह ऐसा स्थूल (महान) है कि एक क्षण में तीनकाल तीनलोक को जान लेता है। आत्मा की चैतन्यशक्ति इतनी महान है। जिस प्रकार लैंडी पीपल में चौंसठपुटी चरपराहट की शक्ति है, वही प्रगट होती है, वह चरपराहट बाहर से नहीं आती किन्तु भीतर भरी है, वही प्रगट होती है; उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में अनन्त केवलज्ञान प्रगट होने की शक्ति भरी है, उसका विश्वास करके उसमें एकाग्रता द्वारा वह व्यक्त होती है। शरीर की क्रिया या राग इत्यादि किन्हीं बाह्य कारणों से सर्वज्ञता प्रगट नहीं होती किन्तु अन्तर की ज्ञानशक्ति में से ही केवलज्ञान प्रगट होता है। वर्तमान पर्याय में प्रगटरूप से अल्पज्ञान और विकार होने पर भी द्रव्य की शक्ति में तो परिपूर्ण केवलज्ञान की शक्ति सदैव भरी है; आत्मा के स्वभाव की ऐसी शक्ति का विश्वास करना, वह अपूर्व धर्म है। अपने ज्ञानसवभाव को भूलकर, अनादि काल से देहादि की क्रिया को अपना मानकर तथा पुण्य-पाप को ही अपना स्वरूप मानकर जीव संसार में भटक रहा है। अहो! मेरा आत्मा ही ज्ञानानन्दस्वरूप से भगवान है। भगवान होनेवालों के आत्मा में जितना सामर्थ्य है, उतना ही सामर्थ्य मेरे आत्मा में भी है;—ऐसी प्रतीति जीव ने पहले कभी नहीं की और बाहर से ही धर्म मान लिया है। अधिक किया तो शुभभाव करके उसे धर्म माना, किन्तु उससे भवभ्रमण दूर नहीं हुआ; इसलिये आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है कि जिसे समझने से भवभ्रमण का अन्त आये—उसकी यह बात चल रही है।

बाह्य में शरीर-लक्ष्मी आदि का संयोग-वियोग तो पूर्व के पुण्य-पापानुसार होता है, उसमें जीव का कुछ नहीं चलता। रागी जीव इच्छा अवश्य करता है, किन्तु उसकी इच्छा के कारण बाह्यक्रिया नहीं होती। शरीर और कर्म तो जड़ हैं, वे आत्मतत्त्व से भिन्न हैं और उनकी क्रिया भी आत्मा से भिन्न है। अनादि से भिन्न चैतन्यतत्त्व से च्युत होकर, जो शरीर है सो मैं हूँ, शरीर अच्छा हो तो मुझे धर्म होता है—ऐसी विपरीत मान्यता जीव ने की है; इसलिये उसे देह से भिन्नत्व भासित नहीं होता। देह से भिन्न अंतर के चैतन्यतत्त्व को पहिचानने की यह बात है। इसके सिवा अंतर में पुण्य की शुभवृत्ति होती है, वह भी विकार है; वह पुण्य अनंतबार कर चुका; उसमें कहीं धर्म नहीं

है। अंतर में पुण्य-पाप से पार चिदानन्द आत्मा को पहिचानकर सम्यग्दर्शन प्रगट करना, वह अपूर्व है और उसमें धर्म है। पुण्य से स्वर्ग मिलता है किन्तु उसमें कहीं आत्मा की शांति नहीं मिलती—उससे भवभ्रमण का अन्त नहीं आता। भाई! शांति तो तेरे आत्मा की अंतरंगवस्तु है, वह किसी बाह्यवस्तु में से या पुण्य में से नहीं आती, किन्तु अंतरस्वभाव में एकाग्रता से ही शांति का अनुभव होता है। उसके लिये पहले आत्मा के वास्तविक स्वभाव की पहचान करना चाहिए!

यह शरीर तो पुद्गल अजीव है, इसका संयोग तो नया हुआ है और अमुक काल में उसका वियोग हो जाता है। आत्मा तो अनादि-अनंत असंयोगी वस्तु है। जड़ शरीर की क्रिया से आत्मा को कोई लाभ-हानि नहीं है—ऐसा ज्ञान पहले एक क्षण भी जीव ने नहीं किया है। मिथ्यादृष्टिरूप से शुभभाव करके जीव नवमें ग्रैवेयक तक देव हुआ, नवमें ग्रैवेयक पर पाँच अनुत्तर विमान हैं, वहाँ तो सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं! यहाँ तो यह कहना है कि भाई! आत्मा के भान बिना पुण्य करके तू स्वर्ग में भी अनंतबार गया, तथापि तेरा भवभ्रमण दूर न हुआ; इसलिये तू समझ कि पुण्य की अपेक्षा धर्म अलग वस्तु है।

सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं कि हे आत्मा! तुझमें एक समय में तीनकाल-तीनलोक को जानने की शक्ति है; तेरा स्वभाव इतना स्थूल (महान) है कि एक समय की पर्याय में सारे जगत का ज्ञान समा ले। समयसार में पुण्यपरिणामों को स्थूल कहा है और चैतन्यस्वभाव को सूक्ष्म कहा है;—वहाँ अलग बात है। यहाँ तो आत्मा का अचिंत्य ज्ञानसामर्थ्य बतलाने के लिये आत्मा को स्थूल कहा है; और वह इन्द्रियगम्य नहीं है, उस अपेक्षा से उसे सूक्ष्म कहा है। देखो, जब गिरनारजी ऊपर चढ़े थे, तब दूर-दूर का कितना दिखाई देता था! गिरनार के ऊपर से जूनागढ़ शहर छोटा-सा लगता था; ज्ञान तो इतना लम्बा-चौड़ा नहीं हुआ था; साढ़े तीन हाथ प्रमाण ज्ञान में सब ज्ञात हो जाता था,—इस प्रकार ज्ञान में इतना महान सामर्थ्य है कि समस्त लोकालोक एक क्षण में ज्ञात हो जाता है। ऐसे महान ज्ञान सामर्थ्य की प्रतीति करना, वह पहला धर्म है। आत्मा के ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के बिना दया, दानादिक के शुभभाव करे तो वह कहीं धर्म का प्रकार नहीं है, वह तो पुण्य है—आस्रव है—संसार है। धर्म तो संवर-निर्जरातत्त्व है, वह बन्ध का कारण नहीं है। चैतन्यतत्त्व के ज्ञान बिना शुभभाव से जिनमंदिर आदि बनवाने में करोड़ों-अरबों रुपये खर्च कर दे, तथापि उसमें धर्म नहीं है, मात्र पुण्यबन्ध है। अरे! अरबों की पैदायशवाले महान राजपाट छोड़कर द्रव्यलिंगी जैन साधु हुआ और बड़ी उग्र क्रिया करके शुभभाव से स्वर्ग में गया, तथापि

धर्म का अंश भी नहीं हुआ, क्योंकि ''मैं तो अनन्त ज्ञानशक्ति का स्वामी हूँ; देह या देह की क्रिया मेरी नहीं है, पुण्य का भाव भी मेरा सच्चा स्वरूप नहीं है''—ऐसी समझ किये बिना धर्म नहीं होता। जहाँ आत्मा का भान हो, वहाँ धर्मी जीव जानता है कि मैं तो सदैव ज्ञानस्वरूप हूँ, जो पाप के या पुण्य के भाव होते हैं, वे मेरे ज्ञान से पृथक् हैं। अज्ञानी को अपने चैतन्य की शक्ति का विश्वास नहीं है, वह अपने को पुण्य-पाप जितना ही मानता है और देह की क्रिया का अभिमान करके संसार में भटकता है। देखो, श्रेणिक राजा को देह से भिन्न चिदानन्दमूर्ति आत्मा का भान था; उनके व्रत-तप या त्याग नहीं था किन्तु अन्तर में आत्मा का भान था। अभी तो राज-पाट में थे और अनेक रानियाँ भी थीं, तथापि एकावतारनी हुए और आनेवाली चौबीसी में इस भरतक्षेत्र में तीर्थंकर होंगे-महावीर स्वामी जैसे ही तीनलोक के नाथ तीर्थंकर होंगे।—यह किसका प्रताप? अन्तर में चिदानन्दसवभाव का भान वर्त रहा था, उस सम्यग्दर्शन के प्रताप से वे अगले भव में तीर्थंकर होकर मोक्ष जायेंगे। अन्तर में रागरहित ज्ञानस्वभाव की शक्ति कैसी है, उसे पहिचाने तो अल्पकाल में मोक्ष हुए बिना न रहे। इसलिये सत्समागम से आत्मा की पहिचान का उपाय करना, वह धर्म की रीति है।

आत्मा, देह से भिन्न स्वतंत्र तत्त्व है। शरीर की बाल, युवा और वृद्ध तीनों अवस्थायें ज्ञान में एक साथ ज्ञात होती हैं; किन्तु कहीं वे तीनों अवस्थायें एक साथ एकत्रित नहीं की जा सकतीं। पहले शरीर में बाल और युवा अवस्थायें हुई थी और बीत गई हैं; वे इस समय ज्ञान में ज्ञात अवश्य होती हैं, किन्तु वे बीती हुई अवस्थायें पुनः नहीं लाई जा सकती; इसलिये आत्मा का स्वभाव जानने का है, किन्तु शरीर की अवस्थाओं को कर सके—ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। बचपन, जवानी और बुढ़ापा—यह तो शरीर की दशायें हैं, आत्मा उनसे पृथक् रहकर उन तीनों का ज्ञाता है। आत्मा अपने ज्ञान में ऐसा याद करता है कि—

खेला बचपन, हँसी जवानी, मगर बुढ़ापा तड़पाता है!

—इस प्रकार यह तीनों दशाओं का ज्ञान करता है। पूर्व के पुण्य-पाप को भी वह जानता है कि मैंने पूर्वकाल में इस प्रकार के भाव किये थे, किन्तु वहाँ ज्ञान के साथ पूर्वकालीन विकारी भाव नहीं आ जाते क्योंकि ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है, किन्तु विकार, आत्मा का स्वभाव नहीं है। पूर्वकालीन पाप को जानने से उसका ज्ञान इस समय होता है, किन्तु वे पाप कहीं ज्ञान के साथ नहीं आ जाते। ''अरे रे! मैं तो चैतन्य हूँ, पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है; किन्तु मैंने अपने स्वरूप को

भूलकर पूर्वकाल में तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ के भाव किये और संसार में भटका''—इस प्रकार पूर्वकालीन पापों का ज्ञान किया, तब वर्तमान में उनका ज्ञान हुआ; किन्तु वैसे पाप के भाव नहीं हुए, इसलिये ज्ञान, पाप के भावों से पृथक् है, और इसी प्रकार पुण्य के भावों से भी वह पृथक् है। एक क्षण पुण्य के भाव होते हैं और दूसरे क्षण वे पलट जाते हैं, किन्तु उनका ज्ञान रह जाता है, उस ज्ञानस्वरूप आत्मा है। ऐसे ज्ञानतत्त्व की पहिचान करना, वह अपूर्व धर्म है।

देखो, धर्म अपूर्व वस्तु है। अपूर्व का अर्थ क्या ?—जो पूर्व अनन्तकाल में एक क्षण भी नहीं किया है, वह अपूर्व है। बाह्य में बड़ी-बड़ी पदवियाँ अनन्त बार मिल गईं, पुण्य अनन्तबार किये किन्तु वह कोई अपूर्व नहीं हैं। आत्मा की पहिचान पूर्वकाल में कभी नहीं की, इसलिये वही अपूर्व है। आत्मा की पहिचान होने से अन्तर में सिद्ध भगवान जैसे चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द का अपूर्व अनुभव हो, उसका नाम धर्म है। यह शरीर-मन-लक्ष्मी आदि अजीवतत्त्व हैं। उनका अनुभव जीव में नहीं है। जीव अज्ञान से ऐसा मानता है कि मैं पर का उपभोग करता हूँ, किन्तु वह अज्ञानी भी पर का उपभोग नहीं करता, मात्र अन्तर में हर्ष-शोक की विकारी कल्पना करके उस कल्पना का उपभोग करता है। चैतन्यतत्त्व तो उस पुण्य-पाप के उपभोग से भी पार है, उसकी अज्ञानी को खबर नहीं है। धर्मात्मा जानता है, कि मैं संयोग से और पुण्य-पाप की वृत्तियों से पृथक् चैतन्यस्वभावरूप हूँ; ऐसे भान में धर्मी जीव अन्तर्मुख वृत्ति से अपने ज्ञान-आनन्दस्वभाव का ही उपभोग करता है। अहो ! जहाँ आत्मा का ज्ञान हुआ, वहाँ धर्मी जीव को आत्मा में से झनकार आ जाती है कि अपने चिदानन्दस्वभाव के आश्रय से अब अल्पकाल में मेरे जन्म-मरण का अन्त आ जायेगा और मैं केवलज्ञान प्रगट करके सिद्धपद प्राप्त करूँगा। देखो, अन्तर में ऐसा भान प्रगट करना, वह धर्म का प्रारंभ है।

आत्मा का स्वरूप तो जानना है। चालीस वर्ष पहले इस बँथली-ग्राम में अमुक मार्ग से आये थे;—इस प्रकार चालीस वर्ष पहले का प्रसंग भी इस समय ज्ञान में ज्ञात होता है। इसी प्रकार जीव पूर्वकाल में अनन्त भव कर चुका, उन्हें वर्तमान में प्रत्यक्ष जानने की ज्ञान की शक्ति है। पहले मैं अमुक जगह अमुक भव में था, मैंने पहले ऐसे-ऐसे भव किये हैं—इस प्रकार जातिस्मरणज्ञान से भी ज्ञात हो जाता है; किन्तु वहाँ ज्ञान में जो पूर्वभव ज्ञात होता है, वह कहीं वर्तमान में नहीं आ जाता। क्योंकि ज्ञान तो आत्मा का स्वरूप है किन्तु भव उसका स्वरूप नहीं है। देखो, वर्तमान में महा विदेहक्षेत्र में (पूर्व दिशा में) तीर्थंकर भगवान विराज रहे हैं... कौन विराजते हैं !—सीमंधर

परमात्मा साक्षात अरिहंत पद पर विराजमान हैं, वे जीवन्मुक्त सर्वज्ञ परमात्मा हैं। उन्होंने दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश में ऐसा कहा है कि भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वरूप स्व-संवेद्य है, वह इन्द्रियगम्य नहीं है किन्तु ज्ञानगम्य है। ऐसे आत्मा को पहिचानकर उसमें एकाग्र होना, वह धर्म की रीति है। इन्द्रिय या मन के अवलम्बन से आत्मा नहीं जानता; इसलिये वह सूक्ष्म है, और अपने ज्ञान में तीनकाल-तीनलोक को जान ले, ऐसी महान शक्तिवाला होने से वह स्थूल भी है। इस प्रकार सूक्ष्म और स्थूल ऐसे चिदानन्दतत्त्व को सत्समागम से जानना, उसकी श्रद्धा करना और उसी में लीन होना, वह मुक्ति का उपाय है। सम्यक्त्वी धर्मात्मा कहते हैं कि अहो! ऐसा चैतन्यस्वरूप भगवन आत्मा मेरे ज्ञान मंदिर में सदैव विराजमान रहे, अपने ज्ञान में करता हूँ, इसके सिवा पुण्य पाप का आदर नहीं करता। इस प्रकार धर्मी जीव श्रद्धा-ज्ञान में शुद्ध आत्मा को ही विराजमान करके उसी का आदर करता है। सत्समागम से आत्मा की पहिचान करके अपने में ऐसा भाव करना, वह धर्म है।●●

मानस्तंभ प्रतिष्ठा महोत्सव

और

शुद्धनय के अवलम्बन का उपदेश

[सोनगढ़ में मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

(चैत्र शुक्ला पंचमी)

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! जीवों ने जो कभी नहीं देखा, ऐसा आत्मा का पर से भिन्न शुद्ध एकत्व ज्ञायकस्वरूप मैं अपने आत्मवैभव से बतलाता हूँ। जीवों को अनंतकाल से जो समझाना रह गया है, वह मैं समझाता हूँ। संसार में अज्ञानी जीवों को अन्य सबकुछ सुलभ है, किन्तु एकमात्र आत्मस्वभाव की समझ ही परम दुर्लभ है।

मानस्तम्भ महोत्सव में मुक्ति की छाप

देखो, यह महोत्सव के दिन हैं; यहाँ मानस्तम्भ में सीमंधर भगवान की प्रतिष्ठा होना है, उसका यह महोत्सव चल रहा है। अपना मानस्तम्भ ६३ फीट ऊँचा है और शलाका पुरुषों की

संख्या भी ठीक ६३ है। इस प्रकार मानस्तम्भ की ऊंचाई और शलाका पुरुषों की संख्या–इन दोनों का प्राकृतिक मेल हो गया है। शलाका पुरुष, मोक्ष की छापवाले होते हैं, वे अल्प काल में मुक्ति प्राप्त करनेवाले होते हैं; उन्हें दीर्घ संसार नहीं होता। उसी प्रकार यहाँ मानस्तम्भ के महोत्सव में मोक्ष की छाप लेने की बात आई है। मोक्ष की छाप किसी दूसरे के पास से नहीं मिलती, किन्तु आत्मा का जो परमार्थ स्वरूप कहलाता है, उसे जो जीव समझे, उस जीव को मोक्ष की छाप लग जाती है। जो यह बात समझे, वह अल्प काल में अवश्य मुक्ति प्राप्त कर लेता है। पात्र होकर अंतरस्वभाव की सच्ची समझ द्वारा स्वयं ही अपने आत्मा में मुक्ति की मुहर–छाप लगाता है; आत्मा का अपूर्व भान होते ही धर्मी को निःशंकता हो जाती है कि अब अल्प काल में मेरी मुक्ति है। लोग द्वारका आदि तीर्थों की यात्रा के लिये जाते हैं और वहाँ छाप लगवाकर उसमें यात्रा की सफलता मानते हैं, किन्तु उससे आत्मा का कोई हित नहीं है। यहाँ तो आत्मा स्वयं अपने स्वभाव का निःशंक निर्णय करके सम्यग्दर्शन द्वारा अपने में ऐसी छाप लगाता है कि अल्प काल में अवश्य मुक्ति हो ही जाये।

शांति का स्थान कहाँ है ?

देखो भाई! शांति तो आत्मा के स्वभाव में है; आत्मा का स्वभाव त्रिकाल शांति से भरपूर है, उसकी प्रतीति करके उसके अवलम्बन से ही शांति का अनुभव होता है; इसके सिवा अन्य लाखों बाह्य उपायों से भी जीव को सच्ची शांति नहीं मिलती क्योंकि आत्मा की शांति आत्मा से दूर नहीं है, शांति का स्थान आत्मा में ही है। कुछ ही दिन पहले (वीर सं. २४७९, चैत्र कृष्णा पंचमी को) दक्षिण में श्री बाहुबलि भगवान की ५७ फीट ऊंची प्रतिमाजी का महा मस्तकाभिषेक था। वहाँ से वापिस लौटते हुए हजारों यात्री सोनगढ़ आये थे। उसमें के अनेक लोग कहते थे कि "अहो! क्या सुन्दरता है उन प्रतिमा जी की!! उनकी मुद्रा देखने से चित्त शांत हो जाता था!" देखो, भगवान की वीतरागी मुद्रा की प्रशंसा, बहुमान और भक्ति का भाव तो सम्यक्त्वी को भी आता है; किन्तु अन्तर में निज स्वभाव का बहुमान रखकर उन्हें वैसा भाव आता है, वे उस शुभभाव को सर्वस्व नहीं मान लेते; और अज्ञानी तो वहीं सर्वस्व मान लेते हैं। प्रतिमा जी की प्रशंसा करते समय ऐसे एकाकार हो जाते हैं मानो वहीं आत्मा की शांति भरी हो और आत्मा में कुछ न हो! किन्तु भाई! तेरी शान्ति तो यहाँ है या वहाँ? यथार्थ स्वरूप का भान रखकर ज्ञानी भी आरोप से ऐसा कहते हैं कि अहो! सर्वज्ञ परमात्मा की परम उपशान्त वीतरागी मुद्रा देखने से हमारा चित्त स्थिर हो गया! अज्ञानी तो अपने स्वभाव को भूलकर पर में ही सर्वस्व मान लेता है; इसलिये उसका आरोप भी सच्चा नहीं है। जैसे

सर्वज्ञ भगवान हुए, वैसा ही परिपूर्ण सामर्थ्य मेरे आत्मस्वभाव में है—इस प्रकार निश्चय से अपने आत्मा का भान करे और शुभराग होने से भगवान की वीतरागी प्रतिमा का तथा धर्मात्मा आदि का बहुमान आता है—वह बराबर है, किन्तु अपने को भूलकर अकेले पर के ही बहुमान में रुक जाये और उसी में संतोष मान ले तो उसे आत्मा की शांति का किंचित् भी लाभ नहीं होता और न संसार परिभ्रमण दूर होता है। इसलिये यहाँ तो आत्मा की अपूर्व समझ की बात को मुख्य रखकर ही दूसरी बात का ज्ञान कराते हैं।

आचार्यदेव आत्मवैभव से शुद्धात्मस्वरूप बतलाते हैं।

अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते-करते जीव ने सब किया है, अनन्तबार बड़ा देव और राजा हुआ तथा नारकी और पशु भी अनन्त बार हुआ, किन्तु अपने आत्मा का शुद्धस्वरूप क्या है, वह कभी नहीं समझा। संसार में अज्ञानी जीवों को सब सुलभ है—एक मात्र आत्मस्वभाव की समझ ही परम दुर्लभ है। इसलिये श्री आचार्यदेव करुणा करके उस शुद्ध आत्मा का एकत्व स्वरूप दर्शाते हुए समयसार में कहते हैं कि—

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अपण्णो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाण चुकिज्ज छलं न घेतव्वं॥५॥

अहो! जो जीवों ने कभी नहीं देखा है, ऐसा आत्मा का पर से भिन्न शुद्ध एकत्व ज्ञायकस्वरूप मैं अपने आत्मवैभव से बतलाता हूँ। जीवों को अनन्त काल से जो समझना बाकी रह गया है, वह मैं समझाता हूँ, तो हे जीवो! तुम उसे प्रमाण करना। इस देहमंदिर में विद्यमान किन्तु देह से पृथक् भगवान आत्मा ज्ञायकमूर्ति है, क्षणिक रागद्वेष जितना वह नहीं है, रागद्वेष तो अभूतार्थ हैं—नाशवंत हैं, वे स्वभाव के साथ एकमेक नहीं हो गये हैं, इसलिये उन रागद्वेष से रहित एकाकार ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति करो। इस समय ग्यारहवीं गाथा पढ़ी जा रही है, उसमें भी आचार्यदेव कहते हैं कि अहो शुद्धदृष्टि से देखने पर एक ज्ञायकभावरूप आत्मा है, वही भूतार्थस्वभाव है, और उस भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से ही आत्मा का सम्यक्दर्शन होता है,—'**भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो।**'

सम्यग्दृष्टि के अनुभव की दशा

सम्यग्दृष्टि के अनुभव में भूतार्थ एक ज्ञायकभाव ही प्रकाशमान है; भेद की या राग की प्रधानता उसकी दृष्टि में कभी नहीं होती। साधकदशा में राग और गुणस्थानभेद आते हैं, उन्हें जानते

अवश्य हैं, किन्तु दृष्टि में से अभेद आत्मस्वभाव का अवलम्बन कभी नहीं छूटता; उनके परिणमन में स्वभाव और परभाव के बीच का भेदज्ञान सदैव वर्तता ही रहता है। राग होता है, उसे जानते हैं किन्तु ''यह राग मैं हूँ राग से लाभ है''—ऐसी आत्मबुद्धि नहीं होती, ''मैं अखंड चैतन्यस्वभाव हूँ''—ऐसी अखण्ड दृष्टि रहती है। इसका नाम भूतार्थ का आश्रय अथवा शुद्धनय का अवलम्बन है। लड़ाई या विषय-भोगादि के पापपरिणामों के समय भी अंतर की निर्विकल्प दृष्टि में से अभेद चैतन्यस्वरूप का आश्रय धर्मी के कभी नहीं छूटता, उसकी प्रतीति कभी दूर नहीं होती। उपयोग में भले ही सदैव निर्विकल्पना न रहे, और उपयोग राग की या पर की ओर हो, किन्तु साधकजीव की दृष्टि में कभी भी अभेद स्वभाव का अवलम्बन छूटकर भेद की प्रधानता नहीं होती। भूतार्थस्वभाव की दृष्टि ही सम्यग्दर्शन है, यदि वह दृष्टि छूट जाये तो सम्यग्दर्शन नहीं रहता। इस प्रकार भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दृष्टिपना है।●●

अपूर्व कल्याण का उपाय क्या है ?

अंतर में चैतन्यवस्तु विद्यमान है, उसकी महिमा करके उसे श्रद्धा-ज्ञान में ग्रहण करना ही अपूर्व कल्याण का उपाय है। चैतन्य के ध्रुव सामर्थ्य की महिमा को जाननेवाला ज्ञान उसमें उन्मुख न हो, ऐसा नहीं हो सकता। ज्ञानस्वभाव का आश्रय करने से अनादि के मिथ्या श्रद्धा-ज्ञान का नाश होकर सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान प्रगट हुये, वह अपूर्व भाव है और वही मोक्ष का कारण है।

'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ'—इस प्रकार की ओर उन्मुख होकर जो ज्ञान एकाग्र हुआ, वह आत्मा ही है; आत्मोन्मुख होकर अभेद हुई ज्ञानपर्याय, आत्मा से पृथक् नहीं है; और देह मैं हूँ, राग मैं हूँ—इस प्रकार परोन्मुख होकर जो ज्ञानपर्याय एकाग्र हुई, वह परमार्थतः आत्मा नहीं है, क्योंकि वह आत्मा के साथ अभेद नहीं हुई है। जहाँ ज्ञानपर्याय आत्मोन्मुख होकर एकाग्र हुई, वहाँ द्रव्य-पर्याय का भेद नहीं रहा, इसलिये अभेद रूप से उस ज्ञान को आत्मा ही कहा है।

जो जीव द्रव्य-गुण-पर्याय को अच्छी तरह पहिचान ले, उसकी पर्याय, ध्रुव द्रव्यस्वभाव

की ओर उन्मुख हुए बिना नहीं रहती। पर का तो आत्मा में अत्यंत अभाव है; रागादि विकार तुच्छ हैं; पर्याय का सामर्थ्य क्षणपर्यन्त है और द्रव्य का सामर्थ्य उसकी अपेक्षा त्रिकाल और अनन्तगुना है—ऐसा जानने से ज्ञान में ध्रुव द्रव्य की अपार महिमा आती है और ज्ञान उस ओर उन्मुख हो जाता है। स्वभावसामर्थ्य की महिमा आने से ज्ञान उसमें एकाग्र हो जाता है—वही धर्म है। चैतन्य के ध्रुवसामर्थ्य की महिमा को जाननेवाला ज्ञान उस ओर उन्मुख न हो—ऐसा नहीं हो सकता।

ध्रुवस्वभाव की परम महिमा भासित होने पर, ज्ञान अन्तरोन्मुख हुआ और ज्ञानस्वभाव के साथ उसकी एकता हुई, तथा रागादि के साथ की एकता टूटी; इसलिये वह ज्ञान, रागरहित निर्मल हुआ। वस्तु में उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों एक साथ हैं। ज्ञानपर्याय ध्रुवस्वभाव में ढलने से ज्ञानस्वभाव के साथ एकता का उत्पाद हुआ और विकार के साथ की एकता का व्यय हुआ। सामान्य ज्ञानस्वभाव तो ध्रुवरूप है। उस सामान्य ज्ञानस्वभाव का आश्रय करके ज्ञान उत्पन्न हुआ, वहाँ विकार के साथ की एकत्वबुद्धि से छूटा, इसलिये अनादिकालीन मिथ्याज्ञान का नाश होकर सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ, वह सम्यग्ज्ञान ही आत्मज्ञान है। वह अपूर्व भाव है, वह धर्म भाव है, वह मोक्ष का कारण है।

ज्ञान की विशेष पर्याय जहाँ सामान्य एकाकार स्वभाव की ओर उन्मुख हुई, वहाँ उस पर्याय का लक्ष छूट गया और एकाकार ज्ञायकभाव ही प्रसिद्ध हुआ, इसलिये वहाँ सामान्य का आविर्भाव और विशेष का तिरोभाव हुआ; अन्तरोन्मुख हुई निर्मल पर्याय विद्यमान होने पर भी, उस पर्याय के भेद पर धर्मात्मा की दृष्टि नहीं है, इसलिये उसे अभूतार्थ कहा गया है। अभेद द्रव्य पर ही दृष्टि होने से उसे भूतार्थ कहा है। ऐसे भूतार्थस्वभाव की दृष्टि, वह अपूर्व सम्यग्दर्शन है और उस स्वभाव को जाननेवाला ज्ञान, वह अपूर्व सम्यग्ज्ञान है। ऐसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ही प्रथम धर्म हैं। सम्यग्दृष्टि पक्षियों आदि को ऐसे शब्दों का ज्ञातृत्व भले न हो किन्तु अन्तर में अपने ध्रुव चैतन्यसामर्थ्य की महिमा आने पर, उसके अवलम्बन से उसे पर्याय में ऐसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का अपूर्व परिणमन हो जाता है। और अज्ञानी जीव भले ही अनेक शास्त्र जानता हो, किन्तु अन्तर में अपने ध्रुव चैतन्यसामर्थ्य की महिमा भासित होने के बदले कहीं बाह्य में महिमा करके अटक गया है; इसलिये वह अपने चैतन्यस्वभाव का आश्रय करके परिणमित नहीं होता; इसलिये उसके अनादिकालीन मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान दूर नहीं होते। अन्तर में चैतन्य वस्तु विद्यमान है, उसकी महिमा करके उसे श्रद्धा-ज्ञान में ग्रहण करना ही अपूर्व कल्याण का उपाय है।

(—प्रवचन से)

सम्यग्दर्शन का अचूक उपाय

देखो, यह सम्यक्त्व का पुरुषार्थ! ऐसा पुरुषार्थ जीव ने पहले कभी नहीं किया। कोई कहे कि हम पुरुषार्थ तो बहुत करते हैं, किन्तु सम्यक्त्व नहीं होता,—तो ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई! तेरी बात झूठ है, यथार्थ कारण दे और कार्य न हो—ऐसा नहीं हो सकता। यदि कार्य प्रगट नहीं होता तो समझ कि तेरे प्रयत्न में भूल है। सम्यग्दर्शन होने की जो रीति है, उस रीति से अन्तर में यथार्थ प्रयत्न करे और सम्यग्दर्शन न हो—ऐसा हो नहीं सकता। वास्तव में अपूर्व सम्यग्दर्शन का सच्चा उपाय क्या है, वह जीव ने कभी जाना ही नहीं है और अन्य विपरीत उपाय को सच्चा उपाय मान लिया है। जहाँ उपाय ही मिथ्या हो, वहाँ सच्चा कार्य कहाँ से प्रगट होगा? इसलिये यहाँ आचार्य भगवान ने सम्यग्दर्शन का सच्चा और अचूक उपाय बतलाया है। यदि यह उपाय समझे और तदनुसार शुद्धनय का अवलम्बन लेकर अन्तर के ज्ञानानन्दस्वभाव को पकड़े तो सम्यग्दर्शन का अपूर्व अनुभव और भेदज्ञान अवश्य हो जाये।

श्री गुरु चरण का उपासक

श्री पद्मप्रभ मुनिराज नियमसार की टीका में कहते हैं कि—

को नाम वक्ति विद्वान मम च परद्रव्यमेतदेव स्यात्।
निजमहिमानं जानन् गुरुचरणसमर्च्चना समुद्भूतम ॥१३२॥

गुरुचरणों के समर्चन से (अर्थात् सम्यक् भक्ति से) उत्पन्न हुई निज महिमा को जाननेवाला कौन विद्वान ऐसा कहेगा कि 'यह परद्रव्य मेरा है।'

श्रीगुरु की विनयपूर्वक जिसने अपने आत्मस्वभाव को जाना है और परद्रव्य के एक अंश को भी अपना नहीं मानता, वही सच्चा विद्वान है, और ऐसे जीव को प्रत्याख्यान होता है। जिसे पर से भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप का भान नहीं है और परद्रव्य को अपना मानता है-पर की क्रिया मैं करता हूँ—ऐसा मानता है, उसने वास्तव में गुरु के चरणों की उपासना नहीं की है; उसके प्रत्याख्यान नहीं होती।

सच्चे गुरु कैसे होते हैं, यह भी इसमें आ जाता है-समस्त परद्रव्यों से भिन्न अपने

चिदानन्दस्वरूप की महिमा को जो जानते हों और परद्रव्य के अंश को भी अपना न मानते हों, तथा उपदेश में भी वैसा न कहते हों, वे सच्चे गुरु हैं; और ऐसे गुरु की भक्तिपूर्वक जिसने अपनी निज महिमा को जाना है-स्व-पर का यथार्थ भेदज्ञान किया है, वही गुरु के चरण का सच्चा उपासक है। इसके अतिरिक्त जिन्होंने स्वयं आत्मस्वरूप की महिमा को न जाना हो और परद्रव्य को अपना मानते हों, शरीरादि की क्रिया आत्मा करता है—ऐसा उपदेश देते हों, वे सच्चे गुरु नहीं हैं किन्तु कुगुरु हैं। और कोई भी परद्रव्य मेरा है, उसकी क्रिया मैं करता हूँ अथवा उससे मुझे कुछ लाभ होता है''—ऐसा जो जीव मानता है, वह गुरु के चरण का सच्चा उपासक नहीं है; वह चाहे जितने शास्त्र जानता हो, तथापि ज्ञानी उसे विद्वान नहीं कहते और उसे सच्चा प्रत्याख्यान नहीं होता।

[प्रवचन से]

ज्ञानतत्त्व

आत्मा ज्ञानतत्त्व है। वह ज्ञानतत्त्व, राग से और देह की क्रिया से पृथक् है। ज्ञानतत्त्व में राग या देह की क्रिया नहीं है, और राग द्वारा या देह की क्रिया द्वारा ज्ञानतत्त्व प्राप्त नहीं होता। ऐसे ज्ञानतत्त्व को जाने बिना अज्ञानीजन शुभराग को धर्म मानते हैं। राग तो आत्मा के वीतरागी धर्म में विघ्नरूप है; उसके बदले अज्ञानी जीव उस राग को धर्म का कारण मानकर उसका आदर करते हैं। ज्ञानी तो अपने ज्ञानतत्त्व को राग से पृथक् जानते हैं, इसलिये उस राग को धर्म का कारण नहीं मानते। बीच में शुभराग हो जाये, वह अलग बात है, किन्तु राग को धर्म का कारण मानकर उसका आदर करना, वह तो महान भूल है। राग का आदर करनेवाले को आत्मा के निर्दोष ज्ञानतत्त्व की प्रीति नहीं है।

जिसप्रकार दूध का कटोरा भरा हो और बिल्ली आकर दूध पी जाये—यह अलग बात है और बिल्ली को बुलाकर दूध पिला देना, यह अलग बात है। खीर बनाने के लिये पाँच सेर दूध लेकर रखा हो और बिल्ली को बुलाकर आदर के साथ उसे वह दूध पिला दे, तो उसे खीर बनाने की रुचि ही नहीं है, वह खीर बनायेगा काहे में से ?

उसीप्रकार जो जीव, धर्म करना चाहता है, वह यदि शुभराग से धर्म मानकर उसी का आदर करेगा तो उसका सारा ज्ञानतत्त्व शुभभाव के आदररूप बिल्ली पी जायेगी। राग से पृथक् ज्ञानतत्त्व

तो उसकी दृष्टि में नहीं रहा, तब फिर वह जीव, रागरहित धर्म काहे में से करेगा ? सचमुच उसे धर्म करने की रुचि ही नहीं है। शुभभावरूपी बिल्ली का आदर करके ज्ञानतत्त्व को राग से ही ढँक दिया है; तो अब कहाँ रहकर वह जीव धर्म करेगा ? बीच में शुभराग आ जाये, वह अलग बात है, किन्तु उसे धर्म मानकर आदर नहीं करना चाहिए, क्योंकि राग तो ज्ञानतत्त्व से विपरीत भाव है; राग के आधार से कभी धर्म नहीं होता। धर्म तो ज्ञानतत्त्व के ही आधार से होता है। इसलिये चैतन्यमूर्ति ज्ञानतत्त्व का आदर, उसकी रुचि, उसका बहुमान, उसके प्रति रुचि और उसका अवलम्बन करना ही धर्म करने की रीति है।

हाजरा हजूर भगवान

धर्मी जीव की दृष्टि सदैव अपने शुद्धात्मा पर पड़ी है, इसलिये उसकी दृष्टि में चैतन्यभगवान सदैव हाजराहजूर वर्तते हैं। सम्यक्त्वी की भूतार्थदृष्टि में शुद्धात्मा सदैव समीप वर्तता है और विकल्पों का पर्दा उसकी दृष्टि में से दूर हो गया है। जो जीव अशुद्धता के विकल्प में ही रुका है और एकाकार ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख नहीं होता, उसे तो राग की निकटता है और शुद्धता दूर है। भेददृष्टि में भगवान आत्मा निकट नहीं है किन्तु दूर है, और अभेददृष्टि से देखने पर अंतर में चैतन्यभगवान हाजराहजूर समीप ही है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा

❀ आत्मा ज्ञानस्वरूप है

❀ ज्ञानस्वरूप आत्मा है, इसलिये पर की क्रिया है—ऐसा नहीं।

❀ ज्ञानस्वरूप आत्मा है, इसलिये विकार है—ऐसा भी नहीं है।

❀ ज्ञानस्वभाव को पर के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है।

❀ और ज्ञानस्वभाव को विकार के साथ भी कर्ताकर्मपना नहीं है।

❀ ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करना, वह धर्म है।

प्रौढ़ आयु के गृहस्थों के लिये
जैनदर्शन शिक्षणवर्ग

प्रत्येक वर्ष की तरह इस वर्ष भी श्रावण शुक्ला २ (ता. २१-७-५५) गुरु से भाद्रपद कृष्णा १० (ता. १३-८-५५) शनिवार तक सोनगढ़ में तत्त्वज्ञान के अभ्यासार्थ जैनदर्शन शिक्षण वर्ग प्रारंभ होगा।

तत्वज्ञान के अभ्यास का प्रारंभ करनेवाले जिज्ञासुओं को इस वर्ग का शिक्षण बहुत उपयोगी है। जिन जैन बंधुओं को इस वर्ग में उपस्थित होने की इच्छा हो वे सूचना देकर यथासमय उपस्थित हो जायें।

— जैन स्वाध्यायमंदिर
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

अपूर्व प्रयोग

सत्समागम से चैतन्य की समझ का यथार्थ प्रयोग जीव ने कभी नहीं किया है। अरे चैतन्य आत्मा! तुझे अनन्तकाल में ऐसा मनुष्य अवतार मिला है, उसमें तूने अनेक बाह्यप्रयोग तो किये, किन्तु अंतर में अपना ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा क्या वस्तु है, उसे समझने का प्रयोग अपने ज्ञान में कभी एक क्षण भी नहीं किया, और मनुष्य अवतार को व्यर्थ गँवाकर पुनः संसार में ही परिभ्रमण किया। इसलिये हे भाई! अब जागृत होकर सत्समागम से आत्मा को समझने का प्रयत्न कर, जिससे तेरे अनादिकालीन भवभ्रमण का अंत आ जाये।

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये जमनादास माणेकचंद रवाणी